

भारत में प्रतिनिधि निकाय : एक अध्ययन

डॉ. अमित राजपूत

विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन,

मध्यप्रदेश, भारत

शोध संक्षेप

राष्ट्र और समाज को सुचारू रूप से संचालित करने के लिए प्रातिनिधिक व्यवस्था का विकास मनुष्य सभ्यता की अनुपम देन है। मानव समूह की व्यवस्था के लिए समाज ने शासन संस्था की रचना की। पहले के ज़माने में राज्यसंस्था संकट दूर करने और झगड़े मिटाने के लिए मदद देती थी। यही उसका उद्देश्य था। राजा की वंश परम्परा को त्याग कर लोगों ने प्रतिनिधि चुनने की व्यवस्था शुरू की। वही आज हमारे देश में चल रही है। प्रस्तुत शोध पत्र में भारत में प्रतिनिधि निकाय का अध्ययन किया गया है।

भूमिका

लोकतंत्र एवं प्रतिनिधि संस्थाएँ भारत के लिए पूर्णतया नई नहीं हैं। विचार विमर्श करने वाले कुछ प्रतिनिधि निकाय तथा लोकतंत्रात्मक स्वशासी संस्थाएँ वैदिक काल में भी विद्यमान थी। (सिरका 3000-1000 ई.सा.पूर्व)। ऋग्वेद में 'सभा' तथा 'समिति' नामक दो संस्थाओं का उल्लेख है। वहीं से आधुनिक संसद की शुरुआत मानी जा सकती है। इन दो संस्थाओं का दर्जा और इनके कार्य अलग-अलग थे। 'समिति' एक आम सभा या लोकसभा हुआ करती थी और 'सभा' अपेक्ष्यता छोटा और चयनित वरिष्ठ लोगों का निकाय, जो मौटे तौर पर आधुनिक विधानमंडलों में ऊपरी सदन के समान था। वैदिक ग्रंथों में ऐसे अनेक संकेत मिलते हैं, जिनसे पता चलता है कि ये दो निकाय राज्य के कार्यों से निकट का संबंध रखते थे। इन्हें पर्याप्त प्राधिकार प्रभुत्व एवं सम्मान प्राप्त था। ऐसा ज्ञात है कि आधुनिक संसदीय लोकतंत्र के कुछ महत्वपूर्ण तत्व जैसे निर्बाध चर्चा और बहुमत

द्वारा निर्णय तब भी विद्यमान थे। बहुमत से हुआ निर्णय अनुलंघनीय माना जाता था, जिसकी अवहेलना नहीं की जा सकती थी, क्योंकि जब एक सभा में अनेक लोग मिलते हैं और वहाँ एक स्वर से बोलते हैं तो उस आवाज या बहुमत की अन्य लोगों द्वारा उपेक्षा नहीं की जा सकती।¹

प्राचीन भारत में प्रतिनिधि निकाय

वास्तव में प्राचीन भारतीय समाज का मूल सिद्धांत यह था कि शासन का कार्य किसी एक व्यक्ति की इच्छानुसार नहीं बल्कि पार्षदों की सहायता से संयुक्त रूप से होना चाहिए। पार्षदों का परामर्श आदर से माना जाता था। वैदिक काल के राजनीतिक सिद्धांत के अनुसार 'धर्म' को वास्तव में प्रभुत्व दिया जाता था और धर्म अथवा विधि द्वारा शासन के सिद्धांत को राजा द्वारा माना जाता था और लागू किया जाता था। आदर्श यह था कि राजा को शपथ लेनी पड़ती थी। राजा को विधि तथा अपने क्षेत्र के विधान के प्रति निष्ठा की शपथ लेनी पड़ती थी और अपनी जनता के भौतिक तथा नैतिक कल्याण के लिए

राज्य को न्यास अथवा ट्रस्ट के रूप में रखना होता था। यद्यपि इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि प्राचीन भारतीय राजनीतिक व्यवस्था मुख्यतः राजतंत्रवादी हुआ करती थी, फिर भी ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जहाँ राजा का चुनाव होता था। जो भी हो कुछ लोकतंत्रात्मक संस्थाएं एवं प्रथाएं प्रायः हमारी राजतंत्रीय शासन प्रणाली का सदा अभिन्न अंग रहीं।

‘आत्रेय ब्राह्मण’ पाणिनी की ‘अष्टाध्यायी’, कौटिल्य के ‘अर्थशास्त्र’, ‘महाभारत’, अशोक स्तम्भों के शिलालेखों, समकालीन यूनानी इतिहासकार तथा बौद्ध एवं जैन विद्वानों द्वारा लिखे ग्रंथों में तथा ‘मनुस्मृति’ में इस तथ्य के पर्याप्त ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं कि वैदिकोत्तर काल में अनेक गणराज्य भी थे। उन गणराज्य में जो ‘समधा’ अथवा गणराज्य के नाम से जाने जाते थे, प्रभुसत्ता एक बहुत बड़ी सभा में निहित रहती थी और उसी सभा के सदस्य न केवल कार्यपालिका के सदस्यों को बल्कि सैनिक प्रमुखों को भी चुना करते थे। वही वैदेशिक कार्यों पर नियंत्रण रखती थी और शांति और युद्ध जैसे मामलों पर फैसला भी करती थी। इसके अतिरिक्त कार्यपालिका पर निर्वाचित सभा का पूर्ण नियंत्रण रहता था। पाली में लिखित ग्रन्थों में इस विषय में दिलचस्प ब्यौरे मिलते हैं कि प्राचीन गणराज्यों में सभाओं में क्या-क्या प्रथाएं एवं प्रक्रियाएं अपनाई जाती थीं। जो कुछ विद्वानों के अनुसार ‘आधुनिकतम स्वरूप के विधि एवं संवैधानिक’ सिद्धांतों पर आधारित थी। उदाहरण के तौर पर सभा का अपना अध्यक्ष हुआ करता था, जिसे ‘विनयधार’ कहा जाता था और सचेतक भी हुआ करता था, जिसे ‘गणपूरक’ कहा जाता था। ‘विनयकार’ संकल्प गणपूर्ति का

आभाव, बहुमत द्वारा मतदान, इत्यादि जैसे प्रक्रियागत उपायों एवं शब्दावली से परिचित होता था। सभा में चर्चाएँ स्वतंत्र स्वच्छ एवं निर्बाध हुआ करती थीं। मतदान शलाकाओं (टिकाओं) द्वारा होता था, जो विभिन्न मतों का प्रतिनिधि करने वाली भिन्न-भिन्न रंगों की लकड़ी की पट्टियां होती थीं। जटिल और गम्भीर मामले प्रायः सभा के सदस्यों में चुनी गई विशेष समिति के पास भेजे जाते थे। निचले स्तर पर लोकतंत्र प्रादेशिक परिषदों (जनपद), नगर परिषदों (पौर सभा) और ग्राम सभाओं के रूप में विद्यमान थे। ये निकाय स्थानीय कार्यों की देखरेख पूरी स्वाधीनता से करते थे, जिसमें स्थानीय उपक्रम एवं स्वशासन का तत्व रहता था। ‘अर्थशास्त्र’, ‘महाभारत’ और ‘मनुस्मृति’ में ‘ग्राम संघ’ विद्यमान होने का अनेक स्थानों पर उल्लेख मिलता है। उन दिनों ग्राम सभाओं, ग्राम संघों अथवा जैसे स्थानीय निकाय साधारणतया भारतीय राजनीति व्यवस्था के अंग होते थे।

‘सभा’ तथा ‘समिति’ जैसी लोकतंत्रात्मक संस्थाएं तथा गणराज्य तो बाद में लुप्त हो गए, परन्तु ग्राम स्तर पर (ग्राम सभाएं) अथवा ‘पंचायतें’ अनेक हिन्दू तथा मूस्लिम राजवंशों के शासन काल में अस्तित्व में रहीं तथा ब्रिटिश शासकों के आगमन तक और उसके पश्चात् भी किसी न किसी रूप में प्रभावी संस्थाओं के रूप में कार्य करती रहीं और फलती-फूलती रहीं।

स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय निर्वाचन पद्धति लोकतंत्र की यह महत्वपूर्ण बात है कि इसमें जनता अपनी इच्छानुसार शासन की व्यवस्था कर सकती है। भारत में स्वतंत्रता आंदोलन शुरू हुआ तभी से स्वशासन और स्वराज्य की मांग के पीछे यह भावना रही कि अपनी वैधानिक व्यवस्था के निर्माण का भारतीयों को अधिकार



होना चाहिए। देश का भावी संविधान बनाने के लिए संविधान सभा का निर्माण हुआ और उसने दो वर्ष ग्यारह माहीने सत्रह दिन में अर्थात् तीन वर्ष से भी कम समय में भारतीय संविधान के निर्माण का महान अनुष्ठान पूर्ण कर लिया।

साधारणतः संविधान में चुनावों के संबंध में कोई व्यवस्था नहीं की जाती है और इसका पूरा उत्तरदायित्व विधानमण्डलों पर ही छोड़ दिया जाता है।² किन्तु भारत के संविधान निर्माता नागरिकों के इस राजनीतिक अधिकार को पूर्णतः सुरक्षित करने के लिए अत्यंत उत्सुक थे। अतः उन्होंने संविधान का एक पूरा भाग 15 निर्वाचनों से ही सम्बद्ध किया है। इस भाग में अनुच्छेद 324 से 329 तक निर्वाचनों के संबंध में विभिन्न संवैधानिक व्यवस्थाएं उपबंधित की गई हैं।³

भारत वर्ष में चुनाव की निष्पक्ष व्यवस्था के लिए संवैधानिक उपबंधों के अनुरूप संसद ने अधिनियम लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम 1950, 1951 एवं परिसीमन अधिनियम 'जनप्रतिनिधित्व अधिनियम' बनाया जिसमें मतदाताओं की योग्यता एवं मतदाता चुनाव एवं उपचुनाओं हेतु प्रशासनिक मशीनरी का विस्तृत उपबंध है। 1952 ई. में परिसीमन आयोग अधिनियम पारित किया। जिसके आधार पर ही चुनाव क्षेत्रों की रचना की गयी तथा उनका परिसीमन किया गया। इस अधिनियम के आधार पर ही चुनाव आयोग प्रक्रिया को ठोस आधार प्रदान करता है। इन अधिनियमों में भी समय-समय पर अनेक संशोधन किये गये हैं, जिनका उद्देश्य भारतीय लोकतंत्र की रक्षा के लिए चुनाव में होने वाले भ्रष्टाचार को कम करना है।

एक वास्तविक लोकतांत्रिक प्रणाली की आधारशिला के रूप में स्वतंत्र एवं निष्पक्ष निर्वाचन सुनिश्चित कराने के लिए एक स्वायत्त

निर्वाचन तंत्र की स्थापना के महत्व के विषय में हमारे संविधान निर्माता एक मत थे। इसी कारण भारत में निर्वाचन की व्यवस्था के लिए एक स्वतंत्र प्रशासकीय तंत्र की स्थापना संविधान द्वारा की गई है, जिसे निर्वाचन आयोग का नाम दिया गया है।

निष्कर्ष

स्वतंत्र एवं निष्पक्ष चुनाव करवाने के लिए संसद ने जन प्रतिनिधि कानून 1950 में बनाया,, तभी इसके अंतर्गत एक निर्वाचन आयोग का गठन किया गया। संविधान में अनुच्छेद 324 के अनुसार लोकसभा, राज्य सभा राज्य विधानमण्डलों, पंचायतों, नगरीय निकायों व राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति के निर्वाचनों का अधिक्षण निर्देशन और नियंत्रण निर्वाचन आयोग में निहित है।⁴ भारत एक संघात्मक राज्य है, लेकिन निर्वाचन के लिए प्रशासकीय एकात्मकता शासन-प्रणाली के आधार पर स्थापित है अर्थात् यह सम्पूर्ण भारत के लिए समान है। निर्वाचन आयोग एक स्वतंत्र निकाय है और संविधान यह सुनिश्चित करता है कि वह उच्चतम और न्यायालयों की भाँति कार्यपालिका के बिना किसी हस्तक्षेप के स्वतंत्र और निष्पक्ष रूप से अपने कार्यों को सम्पादित कर सके।⁵

सन्दर्भ ग्रंथ

1. सुभाष कश्यप, हमारी संसद, नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया, 2001 पृष्ठ 125
2. एम.वी. पायली - भारत में संवैधानिक शासन, पृष्ठ 237
3. भारतीय संविधान - भाग - 15 अनुच्छेद 324 से 329
4. भारतीय संविधान - अनुच्छेद 324
5. आर.एन. त्रिवेदी एण्ड एम.पी. राय, भारतीय सरकार राजनीति